लोकोत्सवता

दिवारी

दीपावली एक राष्ट्रीय महापर्व है, जिसे पूरा देश उल्लास और उत्साह से मनाता है। अतएव उसके संबंध में लोकप्रचलित मान्यताएँ और रीतियाँ स्थिर-सी हो गयी हैं। लेकिन स्थान-भेद और काल-भेद से उसमें अनेक परिवर्तन सहज-स्वाभाविक हैं। लोक के बदलाव से उसके स्वरूप में भिन्नता आती ही है। फिर दीपावली के प्रति लोकमन और लोकभाव हमेशा एक-सा नहीं रहता। दलिद्दर (अलक्ष्मी) को घर से बाहर निकालने के लिए स्त्रियाँ सूप और होंड़ी बजाती थीं, पर अब यह रीति समाप्त हो गयी है। पहले पुरुष अज्ञान और अंधविश्वासों के अंधेरों को खदेड़ने के लिए दीपों के अग्निबाण बरसाते थे, लेकिन अब तो दीपों के प्रकाश बाहर ज्यादा चमकते हैं और अंधेरे भीतर बैठे रहते हैं। पहले अंधेरों को भगाने के लिए स्त्रियाँ या पुरुष समूह में एकत्रित होकर प्रयास करते थे, अब इस तरह की सामूहिकता या एकता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

बुंदेलखंड की दिवारी की प्रकृति कुछ अलग ही है। युद्धों और संघर्षों से भरे इतिहास और वीरता की परम्परा के कारण दिवारी भी निराले तेज और ओज की प्रतीक बन गयी है। विशेषता तो यह है कि पुरानी जूझ की मुद्रा आज तक ताजी रही है। दिवारी गायकी एवं ओजमय दिवारी नृत्य। इस अंचल के लोकमन ने 'दिवारी' को इतना आत्मसात् कर लिया है कि उसके लिए दिवारी आलेखन है, गायकी है, नृत्य है और जिंदगी का एक खेल है।

उत्सवों का उत्सव

इस लोकोत्सव में तीन अन्य उत्सव सम्मिलित होकर महोत्सव का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। कार्तिक माह के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को धनतेरस से दीपावली का प्रारंभ हो जाता है। इस दिन सोना-चाँदी और नये बर्तन क्रय किये जाते हैं। संध्याकाल यम देवता को दीपदान किया जाता है और रात्रि में खरीदे गये पात्रों में धन (सोना-चाँदी, सिक्के, आभूषण, रत्नादि) रखकर उनकी पूजा की जाती है। यह सब भोतिकता की पूजा का प्रतीक है। दूसरे दिन चतुर्दशी को नरक चतुर्दशी कहा जाता है। नरक शब्द के जुड़ने से वह स्वच्छता का प्रतीक बन गया है, क्योंकि उस दिन घर के कूड़ा-कर्कट और गंदगी का नरक साफ किया जाता है। देह की स्वच्छता के लिए स्नान किया जाता है और अज्जाझारौ एवं करई तुमरिया से उतार कर बाहर डाल दिया जाता है। टोटका का यह रूप संभव है या फिर वनस्पतियों के जल से स्नान का प्रावधान रहा होगा, जो अब टोटका के रूप में अवशिष्ट है। एक उक्ति लोकप्रचलित है-'अज्जाझारौ करई तुरिया, रोग-दोग लै जाय दिवरिया।'

दीपावली के बाद कार्तिक-शुक्ल प्रतिपदा को गोवर्द्धन-पूजा या अन्नकूट का उत्सव होता है। अन्नकूट उत्सव पुराना है, क्योंकि वह इन्द्रदेव के नैवेद्य के रूप में होता था। बुंदेलखंड में इन्द्र की पूजा महाभारत-काल में प्रचलित थी, जिसका प्रमाण महाभारत के आदि पर्व के छंद १७ से २७ तक के ११ छंदों में मिलता है। लेकिन कृष्म ने इन्द्र के स्थान पर गोवर्द्धन गिरि की पूजा शुरू कर दी थी। तभी से गोवर्द्धन गिरि की पूजा के लिए छप्पन प्रकार के व्यंजन बनाये जाते हैं। अन्न का ढेर लगने से उसे अन्नकूट कहा जाता है। गोवर्द्धन को बुंदेलखंड में गोधन भी कहते हैं और गाय-बैल की पूजा भी करते हैं। कार्तिक-शुक्ल द्वितीया को भइयादोज में बहन, भाई की सुरक्षा और कल्याण के लिए व्रत रखती है और भाई को तिलक लगाकर कवच-सा खड़ा करती है, जबकि भाई बहिन के रूप में नारी का सम्मान करता है। भइयादोज का तिलक एक तरफ प्रेम का प्रतीक है, तो दूसरी तरफ पुरुष या स्त्री की काम-विजय का।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

इस प्रकार दिवारी में पाँच उत्सवों का सम्मिलन है। धनतेरस और नरक चौदस में भौतिक से दैहिक स्वच्छता, दीपावली में मानसिक, बौद्धिक और हार्दिक समरसता तथा गोवर्द्धन और भइयादोज में प्रकृति और काम पर विजय की अर्थवत्ता निहित है। दूसरे शब्दों में, दिवारी महोत्सव मनुष्य की वाह्य और आंतरिक स्वच्छता एवं प्रगति का रेखाचित्र है।

लोकदेवी सुराती

वैष्णवों, तांत्रिकों, शैवों, जैनियों आदि की लक्ष्मी अलग-अलग हैं, पर लोकदेवी सुराती लोक की लक्ष्मी हैं और वे हर जाति, संप्रदाय में लिखी और पूजी जाती हैं। वस्तुतः सुराती बुंदेलखंड की लोकदेवी लक्ष्मी हैं। यह अंचल शक्तिपूजक रहा है और यहाँ शक्तिपूजा की तीन धाराएँ रही हैं-१. सबसे पुरानी मातृका-पूजन की, जो फरका या हाथ से बुने पट पर हल्दी या सिंदूर से लिखी सप्त मातृकाओं के रूप में आज भी द्रष्टव्य हैं, २. भूदेवी या श्रीदेवी की परम्परा है, जो यहाँ भूइयाँ या भियाँ रानी की पूजा के रूप में लोकप्रचलित है और उसमें चकिया (प्रस्तर की गोल चकिया पर श्री या भूदेवी का उत्कीर्ण होना अथवा श्री यन्त्र का अंकन) और चौंतरिया (मिट्टी का चतुर्भुज रूप) पूजी जाती है तथा ३. गौरा-पार्वती, दुर्गा, लक्ष्मी आदि देवियों के विग्रहों की परम्परा है।

प्रामाणिक साक्ष्य के आधार पर सिद्ध है कि लक्ष्मी की सर्वाधिक लोकप्रतिष्ठा दशवीं शती में थी। खजुराहो के लक्ष्मण मंदिर के उपासनागृह के द्वार में ऊपर सरदल पर ब्रह्मा और शिव के बिच में लक्ष्मी की मूर्ति उत्कीर्ण है, जिससे स्पष्ट है कि त्रिदेव में विष्णु के स्थान पर लक्ष्मी को स्थान दिया गया है और लक्ष्मण मंदिर लक्ष्मी मंदिर रहा है। इससे इस अंचल में लक्ष्मी के विग्रह की मान्यता का पता तो चलता है, पर सुराती के लोकप्रचलन के प्रारंभ की खोज बहुत कठिन हे। इतना निश्चित है कि श्रीसूक्त में श्रीलक्ष्मी के लिए 'करीषिणी' का प्रयोग उसके लोकत्व का संकेत करता है। 'करीषिणी' का आशय यह है कि लक्ष्मी गोबर या गोयों में वास करती है। यह भी संभव है कि गोबर गणेश की तरह गोबर लक्ष्मी भी रही हों। बहरहाल, सुराती का आलेखन दशवीं शती से बहुत पहले का है।

रात के मांगलिक काल में चूने या खड़िया से पुती पूजाघर की दीवाल पर गेरू से सुराती लिखी जाती है। कुछ लोग सुराता भी लिखते हैं। सुरत्राता (सं. सुरत्रातृ) से सुराता और सुरात्रात्री से सुराती हो जाना सहज है। इसलिए सुराता का अर्थ विष्णु और सुराती का लक्ष्मी स्पष्ट है। कहीं-कहीं सुरेता और सुरातू भी प्रचलित हैं, जिन्हें लक्ष्मी और विष्णु का अथवा विष्णु और लक्ष्मी का पर्याय समझा जाता है। नारियाँ उनके नामकरण का सही रूप नहीं बता पातीं। इस लोकचित्र में ज्यामितिक प्रतीकों द्वारा सार्थक और जीवंत रेखांकन मिलता है।ऊ पर के दोनों सिरों में सूरज-चंदा प्रकाश और जीवन की शाश्वतता के, दोनों ओर के स्वस्तिक कल्याण के, बीच में सुराती-सुराता के चित्रों में मुख का चतुर्भुज या वर्ग शुभ फलदायक देवमंडल का अथवा त्रिभुज शक्ति का तथा देहयष्टि के घरा या खाने समृद्धि के भंडार के प्रतीक हैं। एक विद्वान् व्याख्याकार ने इन खानों को बंदीगृह माना है, जिसमें बलि द्वारा लक्ष्मी को बंदी बनाया गया था। यह मत सही नहीं है, क्योंकि बंदीगृह में बंद लक्ष्मी लोक द्वारा नहीं पूजी जाती। फिर, बंदीगृह में विष्णु (सुराता) का अंकन कती उचित नहीं है।

सुराती के इस चित्र में एक ओर डबुलियाँ और दूसरी ओर दिये अंकित होते हैं, जो धनधान्य और ज्ञान के प्रतीक हैं। नीचे पारम्परिक चौकों के साथ गोवर्द्धन (गोधन), चौपड़ (खेल), तुलसी (लक्ष्मी की अवतार) और कमल (लक्ष्मी का आसन) कई संदर्भों का संकेत करते हुए चित्र को पूर्णता प्रदान करते हैं। नाग-नागिन (मणिधारी) रत्नादि के, श्रवणकुमार सेवा के और सप्तकोण सप्तर्षि के प्रतीक कभी-कभी अंकित किये जाते हैं। कहीं-कहीं चित्र के चारों तरफ चौखटा खींच दिया जाता है, जिसके बीच-बीच में लहरिया (तरंगायित रेखाएँ) जीवन-प्रवाह को व्यंजित करती हैं तथा स्वस्तिक या गोला कल्याण और सृष्टि के बीज-ब्रह्म के प्रतीक हैं। आशय यह है कि लोकजीवन का प्रवाह कल्याण या

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

परम कल्याण रूपी ब्रह्म की तरफ होना ही चाहिए।

लक्ष्मी-पूजन

लोकदेवी लक्ष्मी का पूजन शस्त्रीय और तांत्रिक विधानों से सर्वथा मुक्त लोकभावना से ही सम्बद्ध है। गौबर से लिपी भूमि पर आटा या चावल के चूर्ण से कमल चौक पूरा जाता है, जो लक्ष्मी के कमलासान का प्रतीक है। चौक के बीचें-बीच एक पट्टिका पर लक्ष्मी जू का पट या लोकमूर्ति आसीन कर उसके सामने या दोनों तरफ सोना-चाँदी, आभूषण, सिक्के, मंजिष्ठा या मजीठ की जड़, शमी की पत्ती और धना रखे जाते हैं। सोना-चाँदी, आभूषण, सिक्के, रत्नादि धन के, मजीठ अनुराग का, शमी शांति एवं आत्मसंयम और धना धान्य के लोकप्रतीक हैं। पूजा की सामग्री में हल्दी प्रेम, श्री सौंदर्य, अश्रत कल्याण, दूभ धैर्य, कमल अनुराग एवं विवेक, सिंदूर सौभाग्य,. कमलगट्टा फल, दीपक ज्ञान, नारियल त्याग तथा खील-बताशा-मोदकादि भोग के प्रतिनिधि हैं। जब कोई व्यक्ति, समाज या राष्ट्र इतने गुणों से युक्त होकर लक्ष्मी का आवाहन करता है, तब लक्ष्मी प्रसन्न होकर सुख-शान्ति और समृद्धि का वरदान देती है।

शक्ति के प्रतीक सुराता

हर जनपद में लक्ष्मी के साथ या तो गणोश या सरस्वती या फिर विष्णु लिखे जाते हैं। बुंदेलखंड में सुराता, सुरातू या सुरेता (नारियाँ अलग-अलग नामों से परिचय देती हैं)। विष्णु ही नहीं हैं जो केवल पोषण करते हैं, वरन् शक्ति के प्रतीक हैं। शब्दकोश में सुरेता का अर्थ 'अति पराक्रमी' और 'वीर्यवान्' दिया गया है। उनके मुख का त्रिभुज भी शक्ति का प्रतीक है। सुराता में न केवल भण्डारण क्षमता है, वरन् उसकी रक्षा करने की शक्ति है। वह लोक को शक्ति की प्रेरणा प्रदान करता है।

यथार्थ की कहन के दिवारी गीत

बुंदेली के दिवारी गीत लोकजीवन के ऐसे गीत हैं, जिनमें आदर्श की ललक रत्तीभर नहीं है, सिप्फ यथार्थ की कहन ही उनके प्राण हैं। वे चरागाही संस्कृति के सच्चे प्रतिबिम्ब हैं और गाँव के लोकचित्र। जीवन की वास्तविकता का ऐसा चित्रण कहीं नहीं मिलता। जीवन से जुड़ाववाले साहित्य का दावा कई बार किया गया है, पर इस अंचल के दिवारी-गीत सुनकर दावे के अर्थ ही बदल जाएँगे। कुछ गीत देखें-

कठिन तो चारई जौ गाय की, कये ठाँड़ें चढ़त पहार रे,

चलतन टूटी जे पनइयाँ, अरे ललकारत टूटी भाँस रे।

अन्नी चुअन्नी अरे न दियौ, कपड़न के लइयौ ना नाँव रे,

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

ब्यानी गइया दै दियौ, मोरी ग्वालिन मगन हो जाय रे।

लोकगीतकारइ स जीवन से इतना जुड़ा है कि वह स्वयं अहीर की बछिया हो जाना चाहता है-

अरे होती तो बछिया अहिर की, चरती मेंड़ लगाय रे,

ठुमक ठुमक पग धरती पै धरती, जैसे गोरी सासरें जाय रे।

मध्यकाल में दिवारी गीत कृष्णभक्ति से प्रेरित होकर कृष्णपरक हो गये। बाद में गोवर्द्धन, दधि, दान जैसी लीलाओं का आख्यान भी होने लगा। श्रृंगारपरक गीत पहले भी थे, पर उत्तरमध्य युग में रियासतों के राजसी वातावरण की हवा खाकर श्रृंगार का रूप और अधिक निखरा। लेकिन उनका श्रृंगार ऐसा लगता था, जैसेकि गाँव की धरती से अभी-अभी फूटा हो। उसका टटकापन देखें-

एक गली की दो गलीं, कड़ कौन गली हो जाँव रे,
बिछिया मोरे बाजने, रसबादी सबई जौ गाँव रे।
एड़ी महावर छूटे न प्रीतम, चोली न छूटे बंद रे,
चार दिना आये भये ना, तैंतो अहिरा चलो चराबै गाय रे।

आधुनिक काल की स्थितियों पर भी कई गीत रचे गये हैं, जो व्यंग्य से चोट करने में काफी आगे हैं। एक उदाहरण देखें-

गाँव-गांव चक्की चलीं, अरे बउएँ भई सुकुमार रे,
काम दंद की तनकऊ नइयाँ, लरबे खाँ तप्यार रे।

इन गीतों की विशेषता है-सच्चाई। वे चाहे जिस युग के हों और उनमें चाहे जो रस बोलता हो, लेकिन सच्चाई उनकी आत्मा है और सच्चाई की ललकार ही उनकी शक्ति। लोककवि चाहे अध्यात्म की बात करें, चाहे न्गीति की, पर उसकी कहन में एक अजीब ओज है-

काँटौ सालै कीच को, औ बदरी को घाम रे,
माता सालै दूसरी, और बिराने काम रे।

ओजस्विनी गायकी

दिवारी गायकी बहुत पुरानी है और आज भी उसका पारम्परिक रूप प्रचलित है। ईसा से चौथी-पाँचवीं शती पूर्व प्राकृत की गाहा (गाथा) गायकी लोक में प्रतिष्ठित थी और वह काफी समय तक मध्यदेश पर छायी रही। उसका प्रसार बुंदेलखंड रमें खूब हुआ, क्योंकि उसे निम्नवर्ग की जातियों ने संरक्षण दिया था। यहां यादवों का राज्य भी रहा और अहीरों की संख्या काफी बढ़ गई थी। ९वीं शती में चंदेलों ने इस प्रदेश की आदिवासी जातियों से संघर्ष किया था, जिसके कारण संक्रमण की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं और लोकचेतना आंदोलित होकर नये उन्मेष के साथ फूट पड़ी। इसी का सुफल था बुंदेली लोकभाषा का ऊद्भव और लोकगीत की धारा का प्रवाह। गाहा के स्वरसंदर्भों को परिवर्तित कर दिवारी गायकी का

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

प्रस्फुटन इसी समय हुआ था और आवश्यकता के अनुरूप ओजमयता भी इसी समय आई थी। कड़खा और साखी गायकी भी इसी कालखंड की गायकी थीं।

कड़खा और दिवारी गायकी में काफी समानताएँ हैं। दोनों तार सप्तक और विलम्बित लय में गायी जाती हैं और दोनों में ढोल जैसा वाद्य अधिकतर गीत की पंक्तियों के बाद ही बजता है। अंतरइ तना है कि कड़खा की विषयवस्तु वीररसपरक होती है, क्योंकि कड़खा युद्ध के पूर्व सैनिकों को प्रेरित करने के लिए गाये जाते थे। दिवारी गीतों में विविध रसों की अभिव्यक्ति मिलती है, पर गायकी तो कड़खा गायकी की तरह ओजस्विनी है।

चरागाही टेर की भागीदारी

यह दो पंक्तियों वाला दोहेनुमा गीत मूलतः चरागाह का गीत है, जहाँ चखवाहा गायों-भैंसों के झुंड लिये हुए अकेला घूमता है। जंगल में कई चरवाहे पशुओं की देखभाल अलग-अलग करते हैं, पर वे हिंसक पशुओं से बचने के लिए एक-दुसरे को अपने-अपने अस्तित्व का बोध कराते रहते हैं। यह तभी सम्भव हे, जब उनके गीत की टेर तारसप्तक स्वरों और विलम्बित लय में हो। पंक्तियों के शुरू और बीच में 'अरे' एव 'ओ' तथा अंत में 'रे' का प्रयोग टेर को तारत्व प्रदान करता है। इसके अलावा इस अंचल की ओजस्विनी प्रवृत्ति भी तारत्व के लिए उत्तरदायी है।

मौनियाँ नर्तक, गायक और वादक

दीपावली के दूसरे दिन बड़े भोर गाँव के ग्वाले, अहीर, गड़रिये आदि पशुपालक तालाब या नदी में स्नान करते हैं और अपनी परम्परित पोशाक पहनते हैं। मौन व्रत धारण करने वाले मौनियाँ कहे जाते हैं। सफेद चमकीली कौंड़ियों से गुँथे लाल रंग के लाँगिये (जाँघिये) और उन पर छोटी-छोटी घंटिकाओं से जटित झूमर कटि पर शोभित हो 'लाँगझूमर' कहलाती है। स्वस्थ गठे हुए वक्षस्थल पर लाल रंग की कुर्ती या सलूका एक निराला पौरुष खड़ा कर देते हैं। झूमर पर बँधती है गलगला (बड़े घुँघरू) की दो पंक्तियाँ, जो पाँव के घुँघरुओं के नीरीत्व पर हँसने के लिए हर समय आतुर रहती हैं। लेकिन वस्त्रों के किनारों से लटकते फुँदने बार-बार सिर हिलाकर उन्हें माना करते हैं। हाथों में मोरपंखों के मूठों की 'ढाल' और दो डंडे का 'शस्त्र' लेकर जब वे मौन धारण कर लेते हैं, तब भले ही लोग उन्हें मौनियाँ कहें, पर वे साक्षात् वीर-रस के अवतार लगते हैं।

मौनियों के साथ घुटनों तक धोती और वक्ष पर ढीला कुर्ता एवं बण्डी पहने तथा सिर पर पगड़ी या साफा बाँधे कई लोकगायक चारणों की तरह दिवारी गाने का संकल्प किये तैयार रहते हैं। तीसरा दल होता है वादकों का, जो हर क्षेत्र में कुछ अलग रंग-ढंग का हो सकता है, लेकिन परम्परित गायकी में ढोल, नगड़िया झाँझ वाद्य रहते हैं और रमतूला तो अनिवार्य-सा ही है। कुछ भागों में मृदंग, टिमकी, मंजीर और कसावरी का प्रयोग होता है। अब अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मृदंग या ढोलक, मंजीरे, बाँसुरी आदि भी प्रयुक्त होने लगे हैं। पहले जब ढोल का धौंसा पाँच-छः नगड़ियों के साथ रमतूले की भैरवी पर गरजता था, तब नग-नग फड़क उठते थे-

अरे ढोल के ओ बजवैया, तोरें न आयी ओंठन रेख रे,
एक बजौरी ऐसी बजा दै, मोरी नग-नग फरकै देह रे।...

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

दिवारी नृत्य की ताण्डवी भंगिमा

गाँव के ग्योंड़े में बाँस की लाठी के सिरे पर तुलसी जैसे बोबई पौधे की शाखें बाँध दी जाती हैं, जिसे छ्याँवर बाँधना कहते हैं। छ्याँवर बँधने पर दिवारी नृत्य शुरू होता है और बारह गाँव की मेंड़ें लाँघने के बाद गाय के नीचे से निकलने पर खत्म होता है। गायक द्वारा दिवारी गीत गाये जाने के बाद पहली पंक्ति की यति पर ढोल का धोंसा घोष करता है, परंतु दूसरी पंक्ति के अंत में गायक के साथ नर्तक दल का सामूहिक स्वर कुछ क्षणों तक तार सप्तक की ऊँचाई पर खड़ा रहता है। तभी वाद्य बज उठते हैं और नर्तक हाथ में लाठी या डंडा लेकर उचकने लगते हैं। धीरे-धीरे वे एक घेरा बना लेते हैं और फिर कई तरह से नृत्य करते हैं।

नृत्य के तीन रूप होते हैं-१. हाथों में केवल मोरपंखों के मूठे लेकर मौनिया गोल घेरे में वाद्यध्वनि के साथ नृत्य करते हैं। शुरू में गति मंद होती है और अंग-संचालन मंथर, लेकिन तीव्र गति होने पर कला का उत्कर्ष दिखाई पड़ने लगता है। हाथों और जंघाओं की नस-नस थिरक उठती है और कौड़ियों की खनक तथा फुंदनों की हलन से संयुक्त होकरइ तनी ऊर्जस्वित हो जाती है कि ओजस्वी पौरुष झलकने लगता है। फिर ध्वनि धीमी पड़ जाती है और नृत्य रुक जाता है। २. डंडा नृत्य का वह रूप जो चाँचर या गखा में होता है, मौनियों के द्वारा सम्पादित होता है। हर नर्तक नृत्य करते हुए अपने दोनों डंडों से अगल-बगल, सामने एवं पीछे के साथियों को अपने कौशल का प्रदर्शन करते हुए उत्तर देता है। कभी बैठकर और कभी लेटकर जब वह विविध मुद्राओं को व्यक्त करता है, तब उसकी कला निखर उठती है। ३. लाठी नृत्य गाँवों में अधिक प्रचलित है, जो दाँव-पेंच की कुशलता के साथ-साथ व्यायाम की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। आक्रमण करने या आक्रमण से रक्षा के सभी दृश्य इस नृत्य के अंग हैं।

दरअसल, दिवारी नृत्य उद्धत नृत्य है। घुँघुरुओं या घंटिकाओं के स्वराघात से महीन और उलझे पदक्षेप कभी-कभी कलाप्रेमियों को भ्रम में डाल सकते हैं, लेकिन कुल मिलाकर यह नृत्य पौरुषेय और समरोचित है तथा अपनी ताण्डवी भंगिमा में सभी भारतीय लोकनृत्यों से निराला है।

नृत्य या खेल ?

विद्वानू व्याख्याकार दिवारी नृत्य को मौनिया या वरेदी नृत्य भी कहते हैं, पर एक नर्तक से साक्षात्कार करने पर उसकी आपत्ति थी-'हम लोग नाचत नइयाँ दिवारी खेलत। कऊँ मरद नाचत है ?' स्पष्ट है कि अहीर लोग वीरोचित क्रियाकलापों में रुचि लेते रहे हैं, जिसकी वजह से वे दिवारी नृत्य को खेल ही मानते हैं। दिवारी गीतों में नृत्या और खेल, दोनों का उल्लेख है। वस्तुतः वह नृत्य है, पर नृत्य होता हुआ भी खेल की सीमा छूने लगता है।

संघर्ष और शक्ति का प्रतीक

दिवारी गीत कहते हैं कि रावण से संघर्ष करने के लिए राम गरजे थे और कंस के खिलाफ कृष्ण-बलराम। लोककवि यही चाहता है कि हर आदमी अंधेरों से संघर्ष करने के लिए राम-कृष्ण बने। अगर एक कुछ नहीं कर सकता, तो दिवारी का

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

ढोल गरज कर कहता है कि एकता में ही शक्ति है-'एक पेड़ मथुरा जमो डार गयी जगन्नाथ रे। फूलो फूल जो द्वारका, फल लागे ब्रदीनाथ रे।।' अंधेरों के विरोध में एक लोकगीत ने दीपकों के लिए लोकदेवी लक्ष्मी से प्रार्थना की है-

एक दिया मोरी बैना खाँ दै देव, किसा कहै लै जाय।
एक दिया मोरी ननदी खां दै देव, घर-घर जोत जराय।
एक दिया मोरे अँगना खाँ दै देव, दूदन भरो नहाय।
एक दिया मोरे देसा खाँ दै दैव, जगर-मगर हो जाय।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.